हिंदी जातीयता और समाज

प्रफुल्ल कोलख्यान

'भाषा के बिना साहित्य नहीं होता और समाज के बिना भाषा नहीं होती। आर्थिक संबंधों द्वारा आपस में जुड़े बिना मनुष्यों का कोई समाज नहीं होता। आर्थिक संबंधों के अनुसार समाज के गठन का रूप होता है, जब आर्थिक संबंध बदलते हैं, तब समाज के गठन का रूप भी बदलता है। परंतु हमेशा नहीं।'

-डॉ.रामविलास शर्मा

कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज आर्थिक संबंधों में बहुत तेजी से बदलाव आ रहे हैं। समाज के गठन का रूप भी बदल रहा है। व्यक्ति, समाज और जातीय चेतना के गठन के नये संदर्भ भी प्रकट हो रहे हैं। ऐसे में, हिंदीभाषी समाज की बात आज नये सिरे से सिर उठा रही है तो निश्चय ही समझने का उपक्रम भी नये सिरे से करना होगा। डॉ. रामविलास शर्मा जब हिंदी जातीयता की बात करते थे तो उनके पास इसके लिए पर्याप्त तर्क हुआ करते थे। इन तर्कों के बावजूद हिंदी जातीयता का कोई वास्तविक स्वरूप अब तक उभार नहीं पा सका, न तो राजनीतिक संदर्भ में और न व्यापक सांस्कृतिक स्वरूप के ही संदर्भ में। हिंदी जन या जनों में किसी प्रकार की ठोस और वास्तविक जातीय-चेतना

का विकास नहीं हो सका। वस्तुत:, डॉ. रामविलास शर्मा का हिंदी जातीयता की चेतना का सिद्धांत एक बौद्धिक प्रस्ताव मात्र बनकर रह गया। एक ऐसा प्रस्ताव जिस पर सच पूछा जाये तो विद्वानों ने और खासकर हिंदी के विद्वानों ने कभी गंभीरतापूर्वक अपेक्षित ध्यान दिया ही नहीं। इसके अपने कारण रहे होंगे। यद्यपि, हिंदी की जातीय चेतना पर गंभीरता से विचार किये जाने की जरूरत है तथापि हिंदीभाषी समाज की बनती हुई अवधारणा से उसका अपना महत्त्वपूर्ण अंतर है और इस अंतर को भी आज ध्यान में रखे जाने की जरूरत है। डॉ. रामविलास शर्मा की हिंदी जातीयता की अवधारणा का आधार वृहत्तर राजनीतिक-सांस्कृतिक हिंदी क्षेत्रों की केंद्रिकता में अपना रूपाकार निर्मित करता है। यद्यपि, भूगोल भी जातीय चेतना का अनिवार्य विधायक और नियामक तत्त्व है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ. रामविलास शर्मा इस भू-तत्त्व की अनिवार्यता को अपनी हिंदी जातीय चेतना के सिद्धांत गठन में किन्हीं कारणों से अपेक्षित महत्त्व नहीं प्रदान कर सके थे। इन कारणों की छान-बीन की जानी चाहिए। जो हो, हिंदी जातीयता की इस अवधारणा में हिंदी समाज की बनती हुई अवधारणा की मुख्य केंद्रिकता अंतर्भुक्त नहीं है। इसलिए हिंदी समाज के उभरते हुए स्वरूप को हिंदी जातीयता से विलग और कम-से-कम थोड़ी देर के लिए उसे स्थगित रखकर ही समझा जा सकता है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि हिंदी जातीयता की अवधारणा हिंदी-प्रदेश को केंद्र में रखती है जब कि आज के परिप्रेक्ष्य में हिंदी समाज गैर-हिंदी प्रदेशों, अर्थात जिस भू-क्षेत्र में सामान्य बोल-चाल की मुख्य भाषा हिंदी नहीं है, में आकार पा रहा है। इस हिंदी जातीयता और हिंदी सामाजिकता की पृथक और भिन्न भौगोलिकता से भी बहुत सारी जटिलताएँ उत्पन्न हैं, इसलिए इसके स्वरूप और बनावट को भी गंभीरतापूर्वक समझना होगा। हिंदी समाज की समस्याओं पर बात करने के लिए जरूरी है कि हिंदी समाज की बनती हुई अवधारणा और संघटना के उपस्थित परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में उसके स्वरूप और आशय को, चाहे वह इस समय कितना ही धुंधला क्यों न प्रतीत होता हो, इसकी ऐतिहासिकता के साथ सामने रखने की कोशिश की जाये। क्योंकि, किसी भी समस्या का मूल केंद्र उसकी बुनावट और बनावट में ही अंतर्निहित हुआ करती है। हिंदुस्तान के बारे में डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने भारतीय आर्यभाषा और हिंदी में लिखा है: यह शब्द (हिंदुस्तान), मुस्लिम काल में अपने सीमित अर्थ में पंजाब और बंगाल के बीच उत्तर भारतीय मैदान के लिए प्रयुक्त होता था। पूर्वी हिंदी तथा बिहारी (जार्ज ग्रियसर्न ने बिहार में बोली जानेवाली बोलियों/ भाषाओं को सामूहिक रूप से बिहारी बोली कहा था) को बोलनेवाला पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार का भाग जो, जो पूरब कहलाता है, भी इसी हिंदुस्तान या हिंदुस्थान का ही हिस्सा है। पश्चिम बंगाल में आज भी इस प्रदेश के मूल वाशिंदे को हिंदुस्तानी ही कहा जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि हिंदुस्तान शब्द में जो भी अर्थ विस्तार हुआ है या जिस अर्थ में इसे भारत का पर्याय माना गया है

वह इन हिंदुस्तानियों का अपना आग्रह रहा है। और हिंदी समाज वस्तुत: इन्हीं हिंदुस्तानियों का समाज है।

इस देश में मोटे तौर पर राजनीतिक स्वतंत्रता, विभाजन और औद्योगीकरण की प्रक्रिया का समाजिक प्रतिफलन लगभग साथ-साथ घटित होता है। इन तीनों से आधुनिक भारत के सामाजिक पुनर्निर्माण की राजनीतिक प्रक्रिया का गहरा जुड़ाव है। आधुनिक भारत के सामाजिक पुनर्निर्माण की यह प्रक्रिया यद्यपि स्वतंत्रता आंदोलन की संपूर्ण आकांक्षा की अविकल जटिलताओं को स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात अपने अंदर नहीं समेट पाती है तथापि उस आकांक्षा के ही कतिपय सूत्रों को पकड़कर आगे बढ़ने की कोशिश अवश्य करती है। यह अलग बात है उन जटिलताओं की समग्रता की अनदेखी हो जाने और राजनीतिक घटनाक्रम के अनपेक्षित दिशाओं में बढ़ते चले जाने से बाद के दिनों में ये कतिपय सूत्र भी हमारे हाथ से धीरे-धीरे छूटते या फिर उलझते चले गये और हम उनकी भरपूर कीमत चुकाने के लिए बार-बार मजबूर हुए हैं। स्वभावत:, किसी बड़ी नयी घटना के घटित होने से पुरानी घटना के अर्थों में भी नया अर्थ और नया प्रसंग जुड़ता चलता है। राजनीतिक स्वतंत्रता, विभाजन और औद्योगीकरण की घटना के परिप्रेक्ष्य में जिन क्षेत्रों को मिलाने से हिंदी क्षेत्र बनता है उन क्षेत्रों में भी एक नई हलचल का प्रारंभ होता है। इस नई हलचल का पहला असर यह दीखा कि उन क्षेत्रों की पहले की मौलिक भाषिक पहचान जो ऐतिहासिक प्रक्रिया के अनुरूप धीरे-धीरे विकसित हुई थी को नई जरूरतों के परिप्रेक्ष्य में अचानक समाप्त नहीं तो चिरकाल के लिए स्थगित कर एक बिल्कुल नई भाषिक पहचान प्रदान की गई। अब जिन क्षेत्रों को हिंदीभाषी क्षेत्र कहा जाने लगा वे क्षेत्र अपने को मैथिली, भोजपुरी, मगही, ब्रज, बुंदेलखंडी, अवधी, कुमाऊँनी, छत्तीसगढ़ी, खड़ीबोली आदि भाषी क्षेत्र के रूप में जानते और मानते थे। ये सभी भाषाएँ/ बोलियाँ अपने-अपने क्षेत्र की ग्रामीण आबादी से जुड़ी हुई रही हैं और इन भाषाओं/ बोलियों में उनकी अपनी स्थानिक-सांस्कृतिक कोशिकाएँ पलती रही हैं। जबकि हिंदी, खड़ीबोली नहीं, मूलत: शहरी या नागरभाषा के रूप में आधुनिक काल में विकसित हुई है। इस पुरानी पहचान और नई संप्रदान के कारण इस क्षेत्र के सद्य: समुपस्थित सामाजिक पुनर्निर्माण के संदर्भ में एक अपेक्षाकृत नये और गंभीर प्रभावी सामाजिक तनाव और दबाव का प्रसंग आ जुड़ता है। यह सिर्फ पुराने से मुक्ति और नये से संयुक्ति के प्रसंग और द्वंद्व से उत्पन्न तनाव और दबाव नहीं है। पुरानी पहचान को पकड़े रहने से इन क्षेत्र के लोगों को अपने पैर के नीचे की ठोस पारंपरिक और परिचित जमीन मिल सकती थी वहीं इस नव संप्रदान से उनके सिर पर अजाने और चित्ताकर्षक आकाश और विकास के संभावित नये क्षितिज को देखने के लिए आँखों के सामने चेतना के नये गवाक्ष खुल सकते थे। इस पुरानी पहचान और नई संप्रदान के

समन्वय और समंजन को समझे बिना इस क्षेत्र के सामाजिक पुनर्निर्माण की चुनौती को समझा भी नहीं जा सकता था, उससे जूझने और निपटने की तो बात ही दूर की चीज है। एक विपत्ति और घटित हुई। नाना कारणों से इस नागर हिंदी की भी अपनी दो स्पष्ट शैली धीरे-धीरे विकसित हो गई--- हिंदी और उर्दू की। ये दोनो ही भाषाएँ कम-से-कम तब तक उनके अपने भू-क्षेत्र में भी सामान्य जन के सामान्य काम-काज की भाषा शहर-बाजार में भी नहीं बनी थीं। सामान्य काम-काज की भाषा हिंदुस्तानी थी जो यद्यपि ग्राम-भाषा तो नहीं थी, तथापि आम जनता में आकार ले रही बाजार की भाषा जरूर थी। हिंदी और उर्दू के सवाल को उनकी नगर केंद्रिकता के कारण नई जटिलताएँ मिलती चली गई जिन्हें धार्मिक आग्रहों और सांप्रदायिक दुरभिसंधियों ने और उलझाया। एक ही भाषा अपनी ग्रामीण-अस्मिता और ग्रामीण-सांस्कृतिक पीठिका के अभाव तथा धार्मिक आग्रहों और सांप्रदायिक दुरभिसंधियों के तनाव में पड़ जाने से बँटकर कैसे दो हो जाती है इसका एक बहुत ही समीचीन उदाहरण हमें देखने को मिल जाता है। हिंदी और उर्दू में जिस प्रकार से भिन्नता उत्पन्न हुई थी, बांग्ला में भी उस प्रकार की भिन्नता के लिए कोई कम बड़ा झगड़ा नहीं था, लेकिन इनकी अपनी उपलब्ध ग्रामीण और पुरानी अस्मिता ने इनके इस झगड़े को उस सीमा से आगे बढ़ने नहीं दिया जिस सीमा के अतिक्रमण के बाद दो अलग भाषाओं या जातीयताओं की विधिवत शुरूआत हो जाती है। डॉ.धीरेंद्र वर्मा सरीखे विद्वानों की यह मान्यता महत्त्व की थी, कि (जिस प्रकार) बंगाल के मुस्लमान बंगाली जाति के अंग हैं, (उसी प्रकार) हिंदुस्तान (हिंदी प्रदेश) के मुस्लमान हिंदुस्तानी जाति के अंग हैं । जिधर प्रगतिशीलों ने भी सकर्मक और अपेक्षित ध्यान नहीं दिया।

जो हो, बंगाल और पंजाब का जहाँ भूगोल बँटा वहीं जिसे हिंदीभाषी क्षेत्र कहा जाता है उसकी भाषाएँ/ बोलियाँ प्रशासकीय स्तर पर व्यावहारिक रूप में स्थगित हो गई। इन भाषाओं/ बोलियों का यह स्थगन, भूगोल के बँटने से कम नुकसानदेह साबित नहीं हुआ। जितना अचानक, तीव्र और प्रभावी यह स्थगन था प्रशासकीय स्तर पर व्यावहारिक रूप में हिंदी की व्यावहारिक स्वीकृति नहीं हो पाने के कारण यह नुकसान और घातक साबित हुआ। इस स्थगन और स्वीकृति का निर्णय राजनीतिक ही अधिक था। स्थगन तो जारी रहा किंतु राजनीतिक कारणों से हिंदी की प्रशासकीय स्तर पर व्यावहारिक स्वीकृति की क्रियाशीलता में शिथिलता और बाद में विरोध एवं उपेक्षा का भाव भी समाविष्ट हो गया। जिन कारणों से हिंदी क्षेत्र की भाषाओं/ बोलियों का यह स्थगन हुआ आजाद भारत में वे कारण कार्य रूप न ले पाये। हिंदी क्षेत्र की पुरानी भाषिक पहचान तो स्थगित हो गई लेकिन चेतना का प्रतीक्षित नया गवाक्ष भी खुल नहीं पाया। भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन तो हुआ लेकिन भाषा के आधार पर सामाजिकता के गठन से राष्ट्रीय एकता और अखंडता खतरे में पड़ती बताई गई। राजनीतिकों ने ही नहीं, विद्वानों ने भी भारत के भाषा सवाल को बोतल का

जिन्न ही माना। जिस समाज की भाषा बोतल का जिन्न बना दी गई उस समाज की समाजिकता के बारे में कहने को क्या हो सकता है! ऊपर से, चेतन-अचेतन रूप से सांप्रदायिक मनोवृत्तियों और शक्तियों को दीर्घ सक्रियता का अवसर हाथ लग गया। सिवान के कृष्ण और करीम की भाषा अपने गाँव में तो भोजपुरी ही रहती है लेकिन शहर आते ही औपचारिक रूप से कृष्ण की भाषा हिंदी हो जाती है और करीम की भाषा उर्दू हो जाती है। औद्योगीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया साथ-साथ चली। शहर औद्योगिक उत्पादन और विपणन के नये केंद्र बने। औद्योगीकरण के कारण गाँव छोड़कर शहर आने की प्रक्रिया स्वभावत: तेज हुई। इसके कारण व्यवसाय-वाणिज्य और उसके कारण रोजगार के भी नये-नये अवसर उत्पन्न हुए। उद्योग और वाणिज्य मिलकर शहर बनाते हैं। जहाँ उद्योग और वाणिज्य के जितने बड़े अवसर थे, वहाँ उतने ही बड़े शहर बने। इन शहरों में आबादी की जो पहली-दूसरी खेप या पीढ़ी आई उसमें व्यक्ति बिना परिवार के अकेले ही आया। लेकिन कुछ ही दिनों के पश्चात उनके परिवार के अन्य सदस्य भी आने लगे। कुछ शहरी जीवन के आकर्षण और कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में जारी सामंती शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति की छटपटाहट आदि ने शहर में किसी-न-किसी तरह बस जाने की मानसिकता के लिए जगह बनाया। पहली-दूसरी खेप या पीढ़ी को, जब तक औद्योगीकरण और वाणिज्य-व्यवसाय के फलने-फूलने के दिन थे, किसी-न-किसी प्रकार का रोजगार भी मिलता गया। इन गैर-हिंदीभाषी राज्यों के विभिन्न शहरों में मैथिली, भोजपुरी, मगही, ब्रज, बुंदेलखंडी, अवधी, छत्तीसगढ़ी, खड़ीबोली भाषी आदि बोलनेवाली हिंदी क्षेत्रों की जो आबादी स्थाई, अर्द्ध-स्थाई रूप से बसी उसी से मूल रूप से उस राज्य में हिंदी समाज के गठन का विकास श्नै:श्नै: होने लगा। हिंदी समाज का यह गठन अभी भी अपनी प्राथमिक और विकासशील अवस्था में ही है। जैसे पश्चिम बंगाल का हिंदी समाज, महाराष्ट्र का हिंदी समाज, असम का हिंदी समाज, आदि। उस क्षेत्र की भाषा-भाषियों की जातीयता के अंदर यह हिंदी समाज एक प्रकार से उस क्षेत्र का विजातीय या कह लें विभाषिक समाज के रूप में विकसित और गठित होता रहा है। एक जातीयता के अंदर उसी जातीयता की विभिन्न सामाजिकताओं का विकास और गठन एक अलग स्थिति बनाता है और और दूसरी जातीयता की सामाजिकता का विकास बिल्कुल भिन्न स्थिति बनाता है। इस भिन्नता के स्वरूप और समाज-मनोविज्ञान को समझना और इसकी ग्रंथियों को खोलना होगा।

असम

में पिछले दिनों हिंदी समाज के सदस्यों की हत्या और उन पर हुए या हो रहे अत्याचारों की चिंताजनक खबर आई। ये हिंदीभाषी असम के हिंदी समाज के सदस्य हैं। वहाँ उनमें एक-सी प्रतिक्रिया हुई लेकिन वहाँ से बाहर जातीय संदर्भ में उसकी

वैसी ही प्रतिक्रिया नहीं हुई। बाहर में मारवाड़ी या भोजपुरी कहे जाने पर जैसी प्रतिक्रिया के लिए संभावना बनती है वैसी प्रतिक्रिया की जगह हिंदी भाषी कहे जाने पर नहीं बनती है। एक उदाहरण और फिजी में भारतीय मूल के प्रधानमंत्री महेंद्र चौधरी के साथ जो सलूक हुआ उस पर प्रतिक्रिया का एक सामान्य भारतीय पक्ष तो था ही लेकिन हरियाणा की प्रतिक्रिया का अपना नितांत जातीय पक्ष भी था। इससे यह समझा जा सकता है कि गैर-हिंदी प्रदेशों में बन रहे हिंदी समाज को अखंड हिंदी जातीयता का मानसिक कवच प्राप्त नहीं है, क्योंकि उस अर्थ में हिंदी जातीयता एक जातीयता के रूप में नहीं बल्कि जातीयताओं के एक समूह के रूप में ही उपलब्ध है।

अद्भुत सामाजिक प्रक्रिया यह कि अपने भू-क्षेत्र में हिंदी जातीयता के अंदर हिंदी समाज के संघटन की प्रक्रिया के अभाव में भी अपने भू-क्षेत्र के बाहर हिंदी समाज धीरे-धीरे आकार पा रहा है। इसके अनेक कारण हैं। एक कारण यह है कि हिंदी क्षेत्र में भले किसी की पहचान भोजपुरी भाषी या मैथिली भाषी के रूप में हो जाये लेकिन हिंदी क्षेत्र के बाहर उन्हें सिर्फ और सिर्फ हिंदी भाषी के रूप में ही पहचाना जाता है। यहीं इस विडंबना को भी समझने का प्रयास किया जा सकता है कि क्यों हिंदी क्षेत्र में हिंदी सामाजिकता गठित नहीं हो पा रही है जबकि हिंदी भू-क्षेत्र की परिधि के बाहर हिंदी सामाजिकता गठित हो पा रही है। जातीयता के बाहर समाज संघटन की इस प्रक्रिया पर ध्यान देने से कई बातें स्पष्ट हो सकती हैं। इस हिंदी समाज की समस्याओं के कई महत्त्वपूर्ण पक्ष उस क्षेत्र की मूल भाषा-भाषी लोगों के साथ सांस्कृतिक, भाषिक और राजनीतिक संबंधों और संपर्कों से जुड़े हुए हैं और इन्हें इन्हीं परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। बहुत ही स्वाभाविक है कि इस हिंदी समाज का सदस्य अपनी भाषा के साथ-साथ उस क्षेत्र विशेष की मूलभाषा का प्रयोग भी बहुत ही आत्मविश्वास और पूरे अधिकार से करता है। यह दीगर बात है कि कई बार उन में उतनी भाषिक दक्षता नहीं आ पाती है कि उस भाषा के बोलनेवाले मूल सदस्य उन्हें पहचान ही नहीं पायें तथापि बाहर से आया हुआ उनके अपने मूल भाषा-परिवार का सदस्य यह समझ ही नहीं पाता है कि वह जिसको उस क्षेत्र विशेष की भाषा में बात करते सुन रहा है वह मूलत: उसी के भाषा समूह या परिवार का सदस्य है! जाहिर है पश्चिम बंगाल के हिंदी समाज, महाराष्ट्र के हिंदी समाज और असम के हिंदी समाज आदि का बाह्य स्वरूप एक-सा होते हुए भी उसकी आंतरिक बुनावट पूर्णत: एक ही नहीं हो सकती है और उनकी समसयाएँ एवं उन समस्याओं के समाधान भी एक नहीं हो सकते हैं। उनकी अपनी एक नितांत आत्यंतिक एवं आत्मिक स्थिति भी बनती है। ऐसे समाज के पास अपना कहा जानेवाला सुपरिभाषित भू-क्षेत्र नहीं होता है। ऐसे भू-क्षेत्र के अभाव के ही कारण सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी रहने के बावजूद वे उस क्षेत्र की जातीयता की विभिन्न सामाजिकताओं के समूह

में अपनी एक सामाजिकता नहीं बन पाते हैं और अलग-थलग ही बने रहते हैं। इनकी विडंबना यह होती है कि ये कोलकाता में हिंदुस्तानी और अपने गाँव में कलकतिया के रूप में अपनाये जाते हैं। साहित्य के संदर्भ में भी सामान्यत: कुछ-कुछ ऐसा ही व्यवहार होता है। यद्यपि आज के हिंदी साहित्य में जातीय तत्त्व की तलाश करने पर भी भिन्न प्रकार के ही निष्कर्ष निकलेंगे तथापि हिंदी भाषी भू-क्षेत्र से बाहर के लोगों के साहित्य को लेकर आत्मीयता के भावबोध का वैसा ही संदर्भ नहीं बन पाता है।

डॉ. रामविलास शर्मा का मत है कि अंग्रेजी भाषा इंग्लैंड के अलावा अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि अन्य कई देशों में बोली जाती है। इन में रचे हुए साहित्य का इतिहास जातीय आधार पर ही लिखा जाता है--- इंग्लिश लिटरेचर का इतिहास अलग, अमेरिकन लिटरेचर का इतिहास अलग। मौरीशस में काफी साहित्य हिंदी भाषा में रचा गया है। वह मारीशसवासियों का जातीय साहित्य है। उसका इतिहास हिंदी जातीयता के साहित्य से पृथक लिखा जायेगा। क्या मुश्किल है! हिंदी जातीयता की अवधारणा अभी हवा में ही है और बात जातीयता के साहित्य के इतिहास लिखने तक पहुँच गई! विडंबना यह कि यही तर्क अवचेतन में फैल कर हिंदी क्षेत्र से बाहर स्थाई रूप से रहनेवालों के द्वारा लिखे गये हिंदी साहित्य को भी हिंदी जातीयता के साहित्य से बेदखलकर इसे उसी भू-क्षेत्र की जातीयता (जैसे बांग्ला) का साहित्य माने जाने का परोक्ष तार्किक आग्रह रखता है। जिसे उस भू-क्षेत्र की जातीयता कभी भी अपना साहित्य नहीं मान सकती है। जैसे, हिंदी प्रदेशों में रहनेवाले और उसी प्रदेश के किसी साहित्यकार द्वारा रचित अंग्रेजी या बांग्ला साहित्य को भी स्वभावत: हिंदी का जातीय साहित्य भी नहीं मान लिया जाता है। इसी मान्यता और मानसिकता के कारण हिंदी प्रदेश के बाहर रहकर हिंदी साहित्य लिखनेवालों को सामान्यत: अपने से बाहर का मानकर व्यवहार और विचार किया जाता है, ये न उधर के रहते हैं न इधर के। राजनीतिक और जातीय सीमांकन सब समय एक ही हो यह बिल्कुल ही आवश्यक नहीं है। कुछ उदाहरण से शायद संदर्भ और स्पष्ट हो सके। जैसे नवगठित राज्य छत्तीसगढ़ और झारखंड में हिंदी पट्टी से अलग अपनी पहचान की आकांक्षा दिखती है। वे अब मध्यप्रदेशी या बिहारी नहीं रहे! यह स्वाभाविक भी है, जबकि बांग्ला देश के रहनेवाले भी बंगाली होते हैं और पश्चिम बंगाल के लोग भी; एक बंगलादेशी बंगाली और एक भारतीय बंगाली। क्योंकि बांग्ला ही इनकी जातीयता है। जबकि पश्चिम बंगाल के राजनीतिक सीमांकन के अंदर रहने के बावजूद सुवास घिसिंग सामान्य और सहज रूप से नेपाली जातीयता के ही सदस्य माने जाते हैं, बंगाल जातीयता के नहीं। वे भारतीय नागरिक हैं, नेपाली होना नागरिकता की नहीं बल्कि जातीयता को सूचित करता है। वे बंगाल के अधिवासी हैं। यहाँ, नागरिकता, राष्ट्रीयता, जातीयता और सामाजिकता के स्वरूप और वैशिष्ट्य को

ध्यान में रखे जाने की जरूरतों को समझना होगा। संख्या में कम होने के बावजूद पश्चिम बंगाल के नेपाली जातीयता और सामाजिकता के पास अपना भू-क्षेत्र होने के कारण पश्चिम बंगाल की मैट्रिक परीक्षा के प्रश्न पत्र नेपाली में प्राप्त करने के लिए नेपाली माध्यम से पढ़नेवाले छात्रों को वैसा संघर्ष नहीं करना पड़ा है जैसा संघर्ष हिंदी में प्रश्न पत्र प्राप्त करने के लिए हिंदी माध्यम से पढ़नेवाले छात्रों को करना पड़ा।

किसी राज्य के अंतर्गत बन रहे हिंदी समाज के स्वरूप और उसकी समस्याओं को समझने के लिए भी यह आवश्यक है कि खुद उस राज्य के सामाजिक स्वरूप और उसकी समस्याओं को समझा जाये। क्योंकि इस परिप्रेक्ष्य में रखकर ही हिंदी समाज की समस्याओं को समझा जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य के बिना किया गया कोई विमर्श-विश्लेषण न सिर्फ अधूरा होगा बल्कि अवैध भी होगा। सुविधा के लिहाज से, परिप्रेक्ष्य की यह तलाश पहले परिप्रेक्ष्य रचनेवाले विभिन्न कारकों के संदर्भ में अलग-अलग करने का प्रयास किया जाना चाहिए फिर समग्र परिस्थिति का विवेचन एक साथ भी किया जाना चाहिए। तथाकथित, वैश्वीकरण एवं बाजारवाद की तेज आँधी के बीच भारत की अपनी आंतरिक संरचना और संघटना के विभिन्न पर्त्तों और प्रसंगों में आ रहे या अनुमित बदलाव के संदेश और संकेत को समुचित रूप से पढ़ा जाना चाहिए। तभी राष्ट्रीयता, जातीयता और समाज के स्वरूप और उसकी समसयाएँ स्पष्ट हो पायेगी और अधिक कारगर समाधान के लिए सूझ हासिल करने में भी सहायता मिलेगी। प्रसंगवश, यह ध्यान में रखना ही चाहिए कि साहित्य का संबंध हर उस प्रसंग से होता है जो मिलकर मनुष्य जीवन का पक्ष रचते हैं लेकिन उसका यह संबंध किसी एक प्रसंग को अपना अनन्य नियामक नहीं बना लेता है--- चाहे वह जातीयता हो, राष्ट्रीयता हो, वैयक्तिकता हो या और कुछ!

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान